भारतीय संस्कृति में पर्यावरण

सुषमा जोशी*

संस्कृति प्रबुद्ध मानव मन की वह संकल्पना है जो समाज के लिए समाजीकरण की आधारशिला तैयार करती है तथा आने वाली पीढ़ी को उसके अनुगमन हेतु प्रेरित करती है। हमारी भारतीय संस्कृति का प्रारम्भिक स्वरूप तपोवनी था, इसलिए इसमें प्रत्येक प्राणी के प्रति संवेदना थी, मानवीय गुणों का समन्वय था। वैदिक ऋचाओं में स्तुति स्वरूप किये गए गुणगान इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि हमारे पूर्वजों का प्रमुख लक्ष्य प्रकृति का दोहन करना नहीं वरन् उसका संरक्षण, संवर्धन करना था। किन्तु दुःखद स्थिति यह है कि आज इस वैश्वीकरण के दौर में हम प्राचीन आस्थाओं, परम्पराओं को विस्मृत कर भोगवादी सभ्यता को अपना रहे हैं तथा ब्राण्ड को कलुषित कर रहे हैं। यह सत्य है कि आज नगर संस्कृति को वन्य संस्कृति के रूप में परिणित नहीं किया जा सकता किन्तु उसमें निहित प्रमुख तत्वों को तो लिया ही जा सकता है।

हमारे भारतीय समाज को प्रारम्भ से ही एक समद्ध संस्कृति विरासत के रूप में प्राप्त है जो सदैव से ही जनजन को सुसंस्कृत बनाने हेतु उसके व्यवहार प्रतिमानों को निर्देशित करती आयी है। संस्कृति प्रबुद्ध मानव मन की वह संकल्पना है जो समाज के लिए सामाजीकरण की आधार शिला तैयार करती है तथा आने वाली पीढ़ी को उसका अनुगमन करने के लिए प्रेरित करती है। सामान्य अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक साधनों का समिश्रित योग है, जिससे समाज में रहते हुए व्यक्ति स्वयं को समायोजित करता है। हमारी संस्कृति का प्रारम्भिक स्वरूप तपोवनी था। तपोवन के मध्य पालित-पोषित हुई इस संस्कृति में अध्यात्म पक्ष प्रबल था। इसीलिए सम्भंवत: रवींद्रनाथ टैगोर ने इसे 'अरण्य संस्कृति' के नाम से संबोधित किया। अरण्य अर्थात वन से जुड़ी होने के कारण इस संस्कृति में प्रत्येक प्राणी के प्रति प्रेम, सहानुभूति, दया, सदभाव, सहज ही जुड़ गए। मानवीय गुणों के साथ-साथ हमारी संस्कृति में

**वरिष्ठ प्रवक्ता*, बसंत महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी, उत्तर प्रदेश.

आध्यात्मिक पर्यावरण के प्रति भी विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय संस्कृति में निहित प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति आदर निष्ठा का भाव सर्वविदित है। प्राचीन वैदिक साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि मनुष्य को प्रकृति का पुत्र कहा जाता था। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या' इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भारतीय संस्कृति सदैव से ही साहचर्य-सामीप्य में परिवर्धित एवं पोषित हुई थी। प्रकृति और संस्कृति के मध्य सहज, स्वभाविक तादात्मय संबंध था। प्रकृति द्वारा प्रदत्त उपादानों के प्रति कृतज्ञता हमारी संस्कृति का मुख्य आदर्श था, इसीलिए उन्हें पूज्यनीय भी समझा जाता था। मनुष्य प्रकृति के इतना निकट रहा कि उसे सुरक्षा भी चतुर्दिक पर्यावरण से ही प्राप्त हुई, इसीलिए उसने प्रकृति के आधारों में देवत्व गुण अरोपित करते हुए उन्हें जनमानस की श्रद्धा का केंद्रबिन्दु बनाया। प्रकृति के समस्त उपादान जैसे—जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों, जलाशयों, नदियों के संरक्षण, संवर्धन पर ध्यान दिया। 'अग्नि' जिसे सूर्य का साकार रूप माना जाता है, उसे ऊर्जा के अपरिमित स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया। ऋग्वेद की ऋचाओं में स्पष्ट वर्णित है कि सूर्य की रश्मियों में वायु मण्डल में फैले हुए असँख्य कीटाणुओं को नष्ट करने की क्षमता है। नदियों को भी जीवनदायनी शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए ऋग्वेद की स्तुति में वर्णित है कि—

"हमारी दैवी नदियाँ हमारी रक्षा के लिए दयामय बनी रहें। वे हमें पीने के लिए जल प्रदान करती रहें, और हम पर आनन्द और खुशियाँ बरसाती रहें। हमारी बहुमूल्य निधियाँ और मानव की विधाता हे नदियो! हम तुम्हारे जल के, आरोग्यकर जल के आकांक्षी हैं।"

इसी प्रकार 'वायु' तत्व की स्तुति में भी हमारे ऋषि वृन्द कहते हैं—

"हे वायु! अपनी औषधि ले आओ और सब रोगों को दूर करो, क्योंकि तुम सभी औषधियों से युक्त हो।"

जल को जीवन का आधार मानते हुए ऋचाओं में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—

"हे जल तुम अन्न की प्राप्ति के लिए उपयोगी हो। तुम पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ, अन्न आदि निर्भर हैं। तुम औषधि रूप हो।"

वैदिक ऋचाओं में स्तुति स्वरूप किये गए गुणगान इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि हमारी संस्कृति में प्रारम्भ से ही पर्यावरण के प्रति आदर का भाव सन्निहित था। मनुष्य को प्रकृति ने प्रारम्भ से ही जीवनदायिनी शक्ति प्रदान की। प्रकृति के स्रोतों का प्रयोग करते हुए तथा उनसे पोषक तत्वों को ग्रहण कर मनुष्य ने सभ्यता के पायदानों को लाँघते हुए आज सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत कहलाने का दर्जा प्राप्त किया है। ये प्रकृति का समन्वित रूप ही पर्यावरण का अंश है। 'पर्यावरण' परि तथा आवरण से मिलकर बना है। 'परि' का अर्थ है चारों ओर तथा आवरण का अभिप्राय है 'घेरा' अथवा ढाँकना, आच्छादित करना। पर्यावरण का तात्पर्य हमारे चारों ओर पाये जाने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक व प्राकृतिक वातावरण से है। सामाजिक वातावरण से अभिप्राय मानव के आपसी संबंधों से है। सांस्कृतिक वातावरण के अंतर्गत नैतिक मूल्य,

परम्पराएँ, आदर्श आदि रखे जाते हैं तथा प्राकृतिक वातावरण में जल, वायु, पृथ्वी, नदी, वृक्षादि वनस्पतियाँ आती हैं। पर्यावरण संबंधी इन सभी तत्वों में प्राकृतिक रूप से स्वत: ही संतुलन देखने को मिलता है तथा ये सभी मानव जीवन के अभिन्न अंग हैं। सदैव से ही इनका समन्वित रूप मनुष्य को सुरक्षाकवच प्रदान करता आया है। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं आधुनिक शिक्षा विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति जी का मानना था—

"पर्यावरण में केवल आपका शहर, कस्बा, गाँव या आस-पास का माहौल ही शामिल नही है, प्रकृति भी उसमें है। यदि प्रकृति से आपका संबंध नही तो मनुष्य से भी आपका कोई संबंध नही।"

वास्तव में मानव व पर्यावरण का सदैव से ही अन्योयाश्रित संबंध रहा है और रहेगा भी। मनुष्य में बुद्धिजीवी प्राणी होने के नाते अपने चतुर्दिक पर्यावरण को प्रभावित तथा कुछ अर्थों में नियंत्रित कर पाने की क्षमता है। शायद इसीलिए यह पँच भूतों से (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) से निर्मित श्रृष्टि पर्यावरण के प्रति सदैव सचेष्ट दिखाई दी। हमारी संस्कृति में संस्कारों के वाहक धर्म ने मानव के प्रत्येक मानसिक, वाचिक, कायिक कार्यों को संयमित ढंग से करने की प्रेरणा दी। भारतीय संस्कृति के अंतर्गत प्रारम्भ से ही वृक्षारोपण, वृक्षसिंचन तथा उनके संरक्षण को पवित्र कृत्य के रूप में स्वीकार किया गया। कुछ प्रमुख वृक्ष जैसे पीपल, बरगद, नीम, तुलसी, बेल को देवत्व का स्थान प्रदान करते हुए उनका पूजन गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया गया इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वृक्ष जैसे जामुन, आँवला, कदम्ब को अत्यन्त उपयोगी मानते हुए इनका रोपण धार्मिक कृत्य माना गया। भारतीय संस्कृति की यह अनूठी विशेषता रही कि उसमें पर्यावरण के प्रत्येक मूर्त-अमूर्त तत्वों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य उन्हें देवताओं के साथ संबंधित कर उनका संरक्षण, संवर्धन, गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया। हमारी वैदिक संस्कृति के स्रोत चारों वेदों में यत्र-तत्र प्रकृति को देवत्व रूप प्रदान करते हुए ऋचाओं के रूप में उनका गुणगान वर्णित मिलता है। ऋषियों-मुनियों, देवताओं की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला 'कल्पवृक्ष' भी प्रकृति की ही एक उपज है। हमारी भारतीय संस्कृति के परिचायक प्रमुख दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थ पुराण, रामायण, महाभारत, उपनिषद यहाँ तक कि बाइबिल, कुरान शरीफ तथा गुरु ग्रंथ साहिब में भी पर्यावरण को प्रमुखता प्रदान करते हुए ज्ञान प्राप्ति में सहायक बताया गया है। प्राकृतिक वातावरण में वह क्षमता होती है जो मानव चित्त को एकाग्र करने में तथा शान्ति प्रदान करने में पूर्ण समर्थ देखी जाती है, तभी तो भगवान बुद्ध ने बोधिसत्व की प्राप्ति पीपल वृक्ष के तले ही प्राप्त की। श्रीमद्भगवत गीता में तो श्री कृष्ण ने स्वयं को 'अस्वत्थ वृक्ष' के रूप में निरूपित कर उसका मान बढ़ाया है। भारतीय साहित्य भी पर्यावरण के प्रेम से अछूता नही कहा जा सकता। हमारे संस्कृत व हिंदी साहित्य की तो प्रकृति आत्मा स्वरूप है। प्राचीन काल की शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ ही प्रकृति के सुरम्य वातावरण से माना जाता था। गुरु के समस्त प्रयास यही रहते थे कि वह अपने शिष्य में प्रकृति के प्रत्येक सूक्ष्म कणों का अभ्यास करा सके। संस्कृत साहित्य तो प्रकृति से इतना जुड़ा हुआ दिखता है कि प्रकृति के उपादानों के माध्यम से ही साहित्यकारों ने जन-जन को प्रकृति

से प्रेम करने का संदेश दिया है। जातक कथाओं, हितोपदेश, पंचतत्र आदि की कथाओं में ऐसे बहुत से उदाहरण देखे जा सकते है। महाकवि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञान शाकुन्तल्म प्रकृति के सानिध्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। मुनि कण्व के आश्रम में पालित पुत्री शकुन्तला का प्रकृति के प्रति प्रेम इस तथ्य की पुष्टि करता है कि प्रकृति भी सानिध्य पाकर मनुष्य के साथ अपनी संवेदनाओं को किसी न किसी रूप में व्यक्त करती है। प्रकृति के साथ अटूट प्रेम तुलसीदास कृत रामचरित मानस में भी यत्र-तत्र देखा जा सकता है। यही नहीं आधुनिक युग में भी छायावादी कवियों ने तो अपनी रचनाओं में प्रकृति का मानवीकरण करते हुए रचनाओं को जीवंत रूप प्रदान करने का प्रयास किया है तथा अपने भावों की अभिव्यक्ति के समस्त उपादान प्रकृति से ही लिए हैं। पं. सुमित्रा नंदन पंत, महादेवी वर्मा, जयशंकर प्रसाद की अनेक रचनाओं में इसे देखा जा सकता है। इन छायावादी कवियों ने प्रकृति में ही सत्यं, शिवं, सुंदरम् के समविंत रूप के दर्शन को स्वीकार किया है। प्रकृति के साथ आत्मीय संबंधों की प्रगाढ़ता प्रसिद्ध शिक्षा विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति जी के विचारों से स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनका मानना था कि प्रकृति मनुष्य को संपूर्ण शिक्षा देने में समर्थ होती है, बस इसके लिए प्रकृति का सानिध्य आवश्यक है। ब्रॉकवुड पार्क (इंग्लैंड) में प्रकृति के साथ सानिध्य की चर्चा करते हुए एक स्थान पर उन्होंने कहा—

''क्या आपने देखा है कि जब आप किसी जंगल में पहली बार घुसते हैं, तो एक अजीब वातावरण होता है, ऐसा लगता है जैसे प्रकृति वृक्ष नहीं चाहते कि आप अंदर आएं। आप झिझकते हैं, और कहते हैं, 'ठीक है' फिर आप शाँत मन से अंदर चले जाते हैं। दूसरी बार आप जाते हैं तो प्रतिरोध कम होता है, और तीसरी बार यह नहीं रहता।''

भारतीय संस्कृति सर्वात्मवाद के सिद्धांत की पूर्ण समर्थक है। जिसके अनुसार परमतत्व यानि ब्रह्म की उपस्थिति छोटे-से-छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़े तत्व में देखी जा सकती है। इस सिद्धांत को प्रमुखता प्रदान करते हुए हमारे मनीषियों ने प्राणी मात्र से स्नेह करने का उपदेश दिया है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। 'कामधेनु' के रूप में तथा गोवर्धन पूजा के रूप में 'गौ' का सम्मान। 'धारित्री' धारण करने के अर्थ में धरती अथवा भूमि की पूजा तथा देवी देवताओं के वाहन के रूप में समस्त प्राणियों की रक्षा इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। हमारी संस्कृति में पक्षियों के परित्रण के भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे— कबूतर की रक्षा के लिए राजा शिवि द्वारा अपनी देह का समर्पण कर देना, रंति देव द्वारा भूखे श्वान को अपना भोजन दे देना, भगवान बुद्ध का सिद्धार्थ के रूप में घायल हँस की सेवा करना इत्यादि। भारतीय संस्कृति में न केवल प्रकृति के साथ तादात्मय की ही चर्चा मिलती है, वरन इस संस्कृति में प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता एवं जागरूकता भी देखी जा सकती है। प्रारम्भ से ही हमारे पूवर्जों का प्रमुख लक्ष्य प्रकृति का दोहन करना नही वरन् उसका संरक्षण, संवर्धन करना था। प्राचीन ऋषि, मुनि, यज्ञादि विधानों के द्वारा पर्यावरण को शुद्ध करने का प्रयास करते थे। उनके समस्त मंत्र प्रकृति को सुरक्षा प्रदान करने

से संबंधित ही होते थे। प्रकृति का क्षरण अमंगल का सूचक (पर्याय) एवं प्रकृति की हरितिमा को आनन्द का पर्याय समझा जाता था। संवेदनशीलता को प्रमुख मानव धर्म के रूप में मानते हुए प्रसिद्ध विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति का विचार था कि प्रकृति केवल निरीक्षण की वस्तु नहीं वरन महसूस करने में अविक आनन्द प्रदान करती है। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा—

''यदि आप समुद्र को, उसके पानी, उसकी लहरों और आते-जाते ज्वार-भाटाओं को गहराई से महसूस नहीं करते तो आप कैसे मानवीय संबंधों में सजग और संवेदनशील हो सकते हैं? यह समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सौन्दर्य केवल भौतिक रूप में नहीं बल्कि सौन्दर्य का सार संवेदनशीलता के उस गुण में है जिसमें प्रकृति के अवलोकन की गुणवत्ता निहित है।"

भारतीय संस्कृति में निर्देशित समस्त संस्कार, आचार, विचार, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर्यावरण संरक्षण से जुड़ते हैं। लोक गीतों में, लोक धुनों में भी प्रकृति के प्रत्येक तत्व को संगीतमय रूप देते हुए उसकी महत्ता को गुणगान किया जाता है। 'वैदिक शान्ति पाठ' इस तथ्य की पुष्टि करता है। इसमें स्पष्ट रूप से वर्णित है कि इस पर्यावरण का प्रत्येक तत्व शान्तिदायक हो। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के संबंध को स्पष्ट दर्शाता है। प्रकृति की प्रत्येक क्रिया अनुक्रिया का प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी हमारी संस्कृति में देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति और पर्यावरण के घनिष्ठ साहचर्य को जानते, समझते हुए भी हम भौतिकतावादी दृष्टिकोण के प्रति इतने अधिक आकर्षित हो रहे हैं कि अपने चतुर्दिक पर्यावरण की अवहेलना कर आधुनिकता के मोहपाश में बंधे जा रहे हैं। प्रकृति प्रदत्त परम्पराओं और आस्थाओं को विस्मृत कर भोगवादी सभ्यता को आत्मसात कर रहे हैं। प्रकृति के प्रति इस विषैली सोच ने पर्यावरण के कण-कण को दूषित कर डाला है। इसे अपना दुर्भाग्य ही मानेंगे कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कलुषित करने वाला स्वयं मनु पुत्र अर्थात् मानव ही है। श्री जे. कृष्णमूर्ति ने एक स्थल पर मनुष्य व ब्रह्माण्ड की चर्चा करते हुए कहा है—

"यह केवल मनुष्य है जो ब्रह्माण्ड में अव्यवस्था लाता है। वह निर्दयी व अत्यन्त हिसंक है। वह जहाँ भी रहता है खुद अपने में और आसपास के संसार में दु:ख विपत्ति और भ्रान्ति पैदा कर लेता है। वह विध्वंस व बर्बादी लाता है, उसके पास करूणा नहीं है। उसके अपने भीतर व्यवस्था नहीं है, इसलिए वह जिस किसी चीज का स्पर्श करता है वह दूषित और अव्यवस्थित हो जाती है।"

जिस प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति हमारे ऋषि मुनि अत्यंन संवेदनशील थे, भावात्मक रूप से जुड़े थे, उसी के प्रति आज हमारी सोच बदल गयी है। आज हमारी संवेदनशीलता मात्र उपयोगिता तक सीमित रह गयी है। कृष्णमूर्ति जी इस संबंध में कहते हैं कि—

"चूँकि हम धरती को और उसकी वस्तुओं को प्रेम नहीं करते मात्र उनका उपभोग करते हैं, इसलिए हम झरने के सौन्दर्य के प्रति

असंवेदनशील हो गए हैं, हम जीवन के स्पर्श को खो चुके हैं, हम कभी पेड़ के तने से पीठ टिकाकर नहीं बैठते, और चूँकि हम प्रकृति से प्रेम नहीं करते इसलिए हम इंसानों और जन्तुओं से प्रेम करना नही जानते"।

वास्तव में आज वैश्वीकरण के युग में मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया हैं कि वह पर्यावरण के सभी उत्पादों को उपयोगिता की दृष्टि से आँकता है। प्रकृति एवं प्रकृतियुक्त पर्यावरण में रहते हुए भी वह उनके संबंधों से अनभिज्ञ है। प्राकृतिक पेड़ पौधों के संवर्धन, संरक्षण को भी हम अपनी सुविधानुसार छोटा-बड़ा करना चाहते हैं। वर्तमान समय में प्रकृति और मनुष्य के संबंधों की गूढ़ता व प्रगाढ़ता के बारे में जे. कृष्णमूर्ति जी का मानना था कि—

"प्रकृति के साथ अपने संबंधों को समझना उतना ही कठिन है जितना पड़ोसी, पानी और बच्चों के साथ अपने संबंधों को समझना। परन्तु हम कभी इसके बारे में विचार नहीं करते।"

श्री जे. कृष्णमूर्ति जी के विचार इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि यदि वास्तव में हम अपने पर्यावरण अथवा प्रकृति से प्रेम करते हैं तो उसके उपयोग में भी पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। भले ही आज के इस वैश्वीकरण के दौर में नगर संस्कृति को पुनः वन्य संस्कृति के रूप में परिणित नहीं किया जा सकता किन्तु वन्य संस्कृति में निहित प्रमुख तत्वों को तो लिया ही जा सकता है। भारतीय संस्कृति जिसमें सामाजिक सदभाव, नैतिक मूल्य, संवेदनशीलता, आचरण की मर्यादा समाहित है, उसे पुनर्जीवित करते हुए हम मानव का उसके पर्यावरण के साथ संबंध जोड़ सकते हैं। इसके लिए हमें सर्वप्रथम सम्पूर्ण मानवता के लिए संवेदनशील होना होगा, तब कहीं शायद हम मानव व पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों को जान सकेंगे।

अन्ततः वर्तमान संदर्भ में यह कहना प्रांसगिक होगा कि हमें सुविचारित ढंग से भारतीय संस्कृति और पर्यावरण के संबंधों को पुनर्जीवित करना होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति भी विश्व में अपनी पहचान तभी बना सकेगी जब कि उसमें निहित पर्यावरणीय तत्वों को प्राथमिकता दी जाएगी। प्रकृति के संरक्षण संवर्धन में ही हमारा कल्याण छिपा है। प्रकृति के साथ छेड़छाड़ या अतिशय दोहन निश्चित रूप से मानव को विनाश के गर्त में ले जाएगा, जिसे प्रकृति का प्रतिकार ही कहा जा सकता है।